सत्यांश

कुछ ही दिनों पूर्व 'शुक्रवार' के संपादकीय में विष्णु नागर जी की टिप्पणी पढ़ी थी कि उन्हें अक्सर उलझन हो जाती है कि किस विषय पर संपादकीय लिखें और किस पर न लिखें। इस झंझट को सुलझाने में काफी माथा-पच्ची करनी पड़ती है। लेकिन यह स्वाभाविक है, जिससे गुजर कर ही मूल विषय तक पहुँचा जा सकता है। अपनी समस्या इसी से जुड़ी हुई, पर दूसरी है। जब भी कुछ लिखना होता है, तो बीच में अपनी उलझन सामने आ जाती है। उसमें भी बाहरी तत्त्वों द्वारा जानबूझकर किसी खास दिशा में सोचने के लिए बाध्य की गई की मात्रा अधिक होती है। ऐसा उन लोगों के साथ अधिक होता है जो स्वयं सामाजिक-प्रशासनिक विग्रहों और भ्रष्टाचार के शिकार होते हैं। ऐसे लोगों के लिए भ्रष्टाचरण, पाखंड और ब्लेकमेलिंग से लड़ना दुनिया को इन बुराइयों से मुक्त कराने का प्रयास बाद में होता है, अपने को इन बुराइयों से निकालना पहली प्राथमिकता होती है। जो व्यक्ति खुद भ्रष्टाचारी हो अथवा भ्रष्टाचार, प्रशासनिक काहिली और वर्गीय जातीय षड्यंत्रों का स्वयं शिकार हो– वह समाज से इन्हें भगाने में कैसे सफल हो सकता है? क्या इसलिए ऐसा सोच सकता है कि समाज पाखंडों-भ्रष्टाचारों से दूर होगा, तो व्यक्ति का दुख दर्द भी कम होगा।

बृहत् समाज में स्थानीय से लेकर वैश्विक स्तर तक सद् के साथ असद् प्रवृत्ति सदैव थोड़ी-बहुत मात्रा में विद्यमान रहती है। अत: सामाजिक शुचिता की संभावना कम दिखती है, व्यक्तिगत स्वच्छता की अपेक्षा। फिर समष्टि का व्यापक परिवर्तन भी इतना आसान कहाँ है? इसलिए यही व्यावहारिक भी है कि सर्वप्रथम अपने स्तर पर इन चीजों का प्रतिरोध और प्रतिकार किया जाए और विरोधी शक्तियों को माकूल जवाब दिया जाए, चाहे वे लाइसेंसी गुंडे हो या किराए के टट्टू। निश्चित रूप से इन दोनों के दकियानूसी समाधान का विचार और 'भीड़ के भेड़-बल' ने व्यक्ति और समाज को रसातल में पहुँचाने का काम किया है। किसी का कोई वास्तविक भला करना इनकी मन:स्थिति से बाहर की चीज है।

जो आदमी खुद समस्यागस्त हो, वह सामाजिक दुनिया का दीपक कैसे बन सकता है? बन सकता है। कुछ लोगों ने इसमें सफलता भी पाई है। स्वयं वितण्डावादियों से लड़ते हुए ही सामाजिक विद्रोह का रूप दिया। किसी सुपरिवर्तन के लिए सर्वप्रथम स्वयं की आवाज मुखर करनी पड़ती है। दुनिया को भ्रष्टाचार रोकने के लिए कहने से पूर्व अपने को भ्रष्ट होने से बचाना जरूरी है। भ्रष्ट और अनाचारी ताकतें अपनी जड़ जमाने के लिए स्वयं सामने कम ही आती हैं, पैसे व पद के दम पर किराये के अपराधियों और लाइसेंसी गुंडों की मदद से अपने काम को अंजाम देती हैं। ये ऐसे तत्त्व हैं जिनके पैर-दिमाग समतुल्य होते हैं। ऐसे तत्त्वों से टकराने का मौका गाहे-बेगाहे मिलता रहता है। कार्यालय हो या गली-रास्ते, विचार-गोष्ठियाँ हों या बाजार, घर हो या पुस्तकालय अथवा मेट्रो हो या ट्रेन- सदैव पीछे-आगे लगे रहते हैं। किराए के टट्टू जो हैं, 'शुभचिंता' दिखाकर अहित करना इनका धंधा है। अपने कुकृत्य, नौटंकी और व्यवहार को इस तरह अंजाम देते हैं, जिसमें इनका तंत्र-मंत्र और 'संख्या-बल का विवेक' बोलता है।

हालाँकि एक बड़ा बौद्धिक वर्ग इस बात पर चिंतित रहता है कि जब भी कुछ लिखना होता है तो कुछ लोग व वर्ग अपना लेकर बैठ जाते हैं। सारे समाज को हम अपना मानें, लेकिन जो 'अपना' है, उसे अपना न मानें; परकाया प्रवेश तो करें, पर स्वकाया प्रवेश नहीं। बिना स्वकाया प्रवेश के परकाया प्रवेश कैसे संभव हो– यह रास्ता नहीं बताया जाता। 'सामाजिक यथार्थ' को सामने रखें, पर 'आत्म-सत्य' से दूर रहें। परंतु सच यह है कि 'आत्म-सत्य' से परे समाज-राष्ट्र के सत्य का कोई पता नहीं पा सकता। व्यक्ति विशेष पर आरोपित संकट जब क्षुब्ध करने वाला होता है, तो वह आत्म सत्य के प्रकटीकरण पर उतर आता है, जैसा कि सामान्य स्थिति में नहीं कर पाता। कबीर, तुलसी, निराला, मुक्तिबोध, जयप्रकाश कर्दम, शरण कुमार लिंबाले, तसलीमा नसरीन और कृष्णा अग्निहोत्री सबका आत्म-सत्य सामाजिक सत्य पर भारी पड़ता है, क्योंकि इनके यहाँ पाखंड या ढोंग नहीं है, वरन् अपनी आत्मिक वाणी के विश्वास की वह चमक और धमक है, जहाँ साधारणत: 'संतुष्ट' संस्कृतिकर्मी व रचनाकार पहुँच नहीं पाते। इसी प्रकार की आत्म-व्यथा का चित्रण तो दलित साहित्य और स्त्री लेखन में हुआ है। यहाँ कहीं यदि समर्पण है, तो वह आत्मपीड़न की स्वीकृति

ही दिखती है और विद्रोह दबावस्वरूप बने बनाए 'आत्म' के प्रति ही पहला द्रोह है।

जब पददलित वर्ग कलम चलाने को आगे बढ़ता है, तो सर्वप्रथम उसकी अपनी समस्याओं, पीड़ाओं, दुखों व सघर्षों की थाती पास होती है। अपने से विलग वह न तो समाज को देख पाता है और न धर्म, संस्कृति, अध्यात्म को। अपने से परे जाकर इन्हें देखने की जरूरत ही क्या है? 'अपना' न देखें तो 'दूसरे' का क्यों देखें? उत्तर जटिल है कि अपने से परे जाकर कोई दूसरे को देख-समझ सकता है क्या? बेशक अपना शोकगीत ही क्यों न हो, लेकिन दूसरे के आनंदगीत गाने के पाखंड से तो बेहतर ही है, क्योंकि इसमें अपनापन की सच्चाई तो है ही। यह सामने आता है, तो दूसरे की पोल खुलती है। जिसकी पोल खुलती है, वह इसे दबाना चाहता है। इसी दबाते रहने में, उसके धतकर्मों का राज छुपा होता है। इस व्यक्तिगत व्यथा-कथा पर 'साहित्य की निर्वैयक्तिकता' की दृष्टि से प्रश्न-चिन्ह लगाया जाता है, तथापि यह तो यही हुआ न कि 'आग में जलते रहो और राम-राम कहते रहो।' इसलिए यह द्रोह जरूरी है, क्योंकि पोंगा-पंथी वाली ढोंगी परम्परा ने हित बताकर अहित किया है। ऐसी क्षुद्र मानसिकता वाली परंपरा बाहर से छूतवाद चलाती है, लेकिन अंदर से नष्ट करने का बीड़ा उठाए रखती है। यह अंधश्रद्धा, पाखंड, नौटंकी और कुकृत्यों की परम्परा है। इसमें जो पिसा है, उसी ने इसकी कलई खोली है। वेदना की ऐसी अनन्यता ही विशिष्टता प्रदान करती है। इसलिए चाहे दलित हों या स्त्री, वे सहानुभूति वह भी मिलावटी, दिखावटी व झूठी नहीं चाहते। 'सहानुभूति' की बजाय उनका भरोसा 'अनुभूति' पर अधिक है। यही उनके रचना-धर्म का प्राणतत्त्व भी है। यही उनके साहित्य को अप्रतिम विश्वसनीयता प्रदान करता है। ये आगाह करते हैं, सहानुभूति के नाम पर उस उछल-कपट से, जो मौका मिलते ही अपने षड्यंत्रों को अंजाम दे देता है।

सत्य, शिव एवं सुंदर वाले साहित्य में आत्म-सत्य अपने प्रति वर्गीय, जातीय, सामाजिक रवैये से आँखें नहीं मूँद सकता। यह साफ और सीधा सवाल खड़ा करता है कि जिस साहित्यिक, सामाजिक और शासकीय चेतना ने हमारी अस्मिता को कुचला है, घूँट-घूँट कर तड़पने के लिए बाध्य किया है। वाजिब हकों की कौन कहे, उचित मानवीय वैधानिक माँगों तक को नकारा है, उसकी गैर वाजिब, अमानवीय और गैर कानूनी माँगों और कार्रवाइयों को हम क्यों सहन करें? क्या इसलिए कि ऐसा करने-करवाने वाले सत्ताधारी, पदधारी और धनधारी हैं, अथवा इन्होंने बुद्धि-विवेक वाली चेतना का पेटेंट करा लिया है। खुश होकर हमारी तरफ कुछ फेंक देंगे अथवा रूष्ट होकर सर्व सत्यानाश कर देंगे? इन प्रश्नों से टकराने की लालसा ही इस लेखन का मुख्य स्वर है, जहाँ 'सर्वमंगल' का पाठ पढ़कर 'आत्ममंगल' से विच्छिन्न होने का ककहरा नहीं सिखाया जाता।

सच्चा चेतनशील व्यक्ति दूसरे की चेतना को गुलाम बनाने या नष्ट करने का काम कभी नहीं कर सकता। जो खुद तो बहुत कुछ होकर भी चेतना से कोसों दूर है, येन-केन प्रकारेण कुछ हथिया लेने और अपनी सत्ता अक्षुण्ण रखने की सीमित चेतना तक तत्पर है, वही ऐसा काम करता है। जिसकी खोपड़ी बंद है, वह दूसरे के दिमाग की खुली चेतना को कैसे बर्दाश्त कर सकता है? इसीलिए ऐसे प्रश्न एक व्यक्ति के नहीं, सरकार, प्रशासन, न्यायिक क्षेत्र, समाज और जातीय चेतना की क्रूरता से जुड़े हैं। यह अलग बात है कि यह 'क्रूरता' भी कभी माधुर्य भाव से युक्त होती है, तो कभी श्रृंगार रस से अनुप्रेरित। कभी जुगुप्ता वाली होती है तो कभी वीभत्स रूप में; परंतु विशेष बात यह है कि हर जगह इसे साफ-सुथरे ढंग से नौंटकीनुमा अनुशासन का जामा पहनाया जाता है।

ऐसे अनुशासन के आवरणों के भीतर न जाने कितने लोगों की घुटन, कुंठा, तनाव आदि मौजूद होते हैं। इनमें हर वर्ग-क्षेत्र के लोग शामिल हैं। कोई इसे कहता है और कोई नहीं कह पाता। ऐसे पाखंडों और दिखावटी कारनामों में सड़न बहुतायात में विद्यमान है और इस 'सड़न की सुगंध' में कुछ लोग मदमस्त हैं, बम-बम हैं, यह उनके लिए गंगास्नान के समान है। फिर भी किसी भी व्यक्ति के दर्द और समस्याओं को कम करके नहीं आँका जा सकता। इनका ब्लेकमेलिंग और सामंती हठ वाला समाधान ढूंढ़ने की बजाय वैधानिक और नैतिक समाधान खोजना होगा।

अंत में, इस बार के अंक में अपने मित्र शाहिद रहीम का आलेख युगसेतु में सम्मिलित किया गया है। गंभीर बीमारी से ग्रस्त होने के कारण दिल्ली के बी.एल. कपूर अस्पताल से अभी-अभी इसे उन्होंने भिजवाया है। वे संघर्षशील और स्वाभिमानी लेखक हैं और अध्येता भी। उन्होंने आईसीयू से निकलने के तुरंत बाद आशा और निराशा के द्वन्द्व में जो कुछ लिख कर भेजा है, उसे उसी रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। कुछ शब्द उन्होंने युगसेतु के बारे में लिखे हैं। सामान्यत: ऐसे प्रशंसक कथनों को हटा दिया जाता है, लेकिन उनकी भावनाओं को देखते हुए उन शब्दों को भी ज्यों का त्यों रखा गया है। उन्होंने दूरभाष पर जल्दी में लिखे इस आलेख का लेखन-प्रकाशन अपनी अंतिम इच्छा कहा, पर हम ऐसा नहीं मानते...। ☆